

## प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था

डॉ. सुहेल अजीम कुरैशी

### सारांश

प्राचीन भारत में न्याय को धर्म के सम्बन्ध में परिभाषित किया गया है। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना और उससे कर्तव्यों का पालन करना ही न्याय था। जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। न्याय का सम्बन्ध नैतिकता तथा धार्मिक तत्वों से जुड़ा था। न्याय का आशय न्याय परायण व्यक्ति से लिया जाता था। न्याय का उद्देश्य नागरिकों के द्वारा कर्तव्य का पालन करना है। न्याय व्यवस्था के अनुरूप ही राज्य के नागरिकों को उसका निष्ठापूर्वक कर्तव्य का पालन करने से ही न्याय की प्राप्ति सम्भव होगी।

**बीजशब्द:** राजा, न्याय व्यवस्था, दण्ड

### प्रस्तावना:-

प्राचीन भारत में राजा विधि के स्थान पर न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था। न्यायाधीशों पर भी विधि के अतिरिक्त अन्य कोई दबाव नहीं था। कार्यपालिका और न्यायपालिका के क्षेत्र अलग-अलग कार्य करते थे, लेकिन दोनों का अध्यक्ष एक ही होता था। न्यायिक प्रशासन में समाज द्वारा बनाये गये नियमों का विशेष प्रभाव था और न्याय व्यवस्था के सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करता था। न्याय का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र में सुख और समृद्धि का प्रसार करना था चूँकि सक्षम व्यक्ति, असक्षम व्यक्ति को न सताने पायें। जो सही हो वह सही ही रहे अर्थात् जो दोषी व्यक्ति हो उसे दण्ड मिले और जो दोषी न हो उसे दंड न मिले। प्राचीन भारत में राज्य प्रशासन का महत्व न्यायिक प्रशासन में अधिक नहीं था और राजा ऐसा कोई नियम या आदेश नहीं कर सकता था जो देश हित या शास्त्रों या विधि-विधानों के विरुद्ध हो। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में अनेक ऐसे दिशा-निर्देश प्रचलित है। जिनसे ज्ञात होता है कि राजा स्वयं किसी विधि के अधीन था और न्याय उसके ऊपर नहीं था। मनुस्मृति में स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि जिस अपराध के लिए साधारण व्यक्ति को कार्शापण का दण्ड दिया जाए। उसके लिए राजा को एक सहस्र कार्शापण का दण्ड दिया जाना चाहिए।

### प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था

प्राचीन भारतीय शास्त्रों के अनुसार राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा को माना गया है और उसे न्याय का पिता कहा जाता है। न्याय करना राजा के पद का कर्तव्य माना गया है। शास्त्र के अनुसार राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा के पारस्परिक विवादों को शान्त कर शान्ति स्थापित करता है। राजा को अपराध करने वाले को सजा और उसे क्षमा का भी अधिकार होता था किन्तु अपराधियों को छोड़ा नहीं जाता था। निरपराधियों (निर्दोष) को दण्ड देने वाले राजा के लिए न केवल नर्क का भय था किन्तु प्रजा भी अपने राजा के प्रति आन्दोलन या विद्रोह कर सकती थी। किसी के प्रति उतार या चढ़ाव न करने वाले राजा को वही फल या पुण्य मिलता था जो पवित्र यज्ञ करने से प्राप्त होता था। राजा स्वयं राज्य के विवादों का निर्णय नहीं कर सकता था। इसके लिए ग्राम स्तर से लेकर राष्ट्रस्तर तक के न्यायालयों की स्थापना करके उसमें न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। किन्तु अन्तिम फैसला राजा के द्वारा ही स्वीकार या मान्य होता था। राजा ही न्याय का अन्तिम उत्तरदायी था।

वैदिक युग में वरुण को प्रशासन और न्याय व्यवस्था का आधिकारिक देवता कहा गया है। जिसके प्रतिनिधि के रूप में राजा इस लोक में राज्य करता है। जो दुष्टों को दण्डित और निर्दोष की रक्षा करता है। प्राचीन भारत

में समाज को नियम बनाने का अधिकार राज्य को प्राप्त नहीं था। भारतीय विचारकों तथा समाज व्यवस्थापकों की धारणा थी कि राजतंत्रात्मक गणतंत्रात्मक या कुलीनतंत्रात्मक किसी भी राज्य का अधिकार जिन लोगों के पास रहता है। वे सांसारिक दृष्टि से बहुत ही विद्वान होते हैं और अपने राज्य के विकास के लिए प्रतिबद्ध रहते हुए प्रसिद्ध होते हैं। शनैः-शनैः राज्यों के विस्तार और साम्राज्यों की स्थापना के साथ ही उनके न्याय का क्षेत्र भी बढ़ता गया था। समस्त वाद-विवादों का सम्पूर्ण हल राजा के द्वारा उसका निवारण करना सम्भव नहीं था। अतः राज्य का इसके लिए विभिन्न अमात्यों, पुरोहितों और न्याय सभा के द्वारा ही इसका निष्पादन किया जाने लगा था। प्राचीन भारतीय विधि-विधानों में राजा के द्वारा न्याय की प्रक्रिया हेतु न्यायालयों (राजदरबार की सभाओं) की स्थापना का सिद्धान्त मान्य था। प्राचीन भारतीय साहित्य में इसको अधिकरण कहा गया है। स्मृति साहित्य में इन न्यायालयों को धर्म, स्थान, धर्मासन, धर्माधिकरण आदि नामों से जाने जाते थे।

राज न्यायालय व सभा का भी राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है। जो क्रमानुसार छोटे-बड़े स्तर के होते थे। राज न्यायालय के भी दो रूप होते थे। एक में मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा स्वयं ही उपस्थित होता था, दूसरे में न्यायालय के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त कर देता था। अन्य न्यायालयों में कुल श्रेणी पूर्व एवं गण आदि के अपने न्यायालय थे। जिन्हें केवल सीमित क्षेत्र में ही न्याय करने का अधिकार प्राप्त था। एक ही वृत्ति करने वाले राज्य सम्मत व्यापारिक संगठनों को श्रेणी कहा जाता है। प्राचीन भारत में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है।

1. राज्य न्यायालय जिसका प्रतिनिधित्व स्वयं राजा करता था।
2. अन्य न्यायालय जिसका प्रतिनिधित्व राजा स्वयं न करके, अमात्यों, पुरोहितों आदि के द्वारा करवाता था।

प्राचीन भारत में न्याय को सृष्टि बनाने के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी और इनकी नियुक्ति करते समय विशेष सर्तकता बरती जाती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह व्यक्ति गुण सम्पन्न, योग्य, उदार, क्रोधरहित, धर्म को जानने वाला होना चाहिए। धर्मशास्त्रों को विद्वान के साथ-साथ चरित्रवान होना भी आवश्यक था। उसमें न्याय करने की क्षमता की दक्षता का गुण होना भी आवश्यक था। उसमें भोग विलास, कुकर्मों की आदत नहीं होना था। वह उत्तम कुल में उत्पन्न, अच्छा श्रोता, कोमल प्रवृत्ति, स्मृति, स्थिर स्वभाव और दण्डनीति के ज्ञान से परिपूर्ण होना चाहिए। न्यायाधीशों की नियुक्ति में ब्राह्मण वर्ग की प्रधानता थी। योग्य ब्राह्मण के नहीं मिलने पर क्षत्रिय या वैश्य को भी न्यायाधीशों की तरह नियुक्त किया जा सकता है किन्तु शूद्र जाति को किसी भी अवस्था में न्याय सम्बन्धी कार्य में नहीं लाया जा सकता था।

प्राचीन भारत में न्याय की क्रियाकलाप अत्यन्त सरल थी। न्याय पाने के लिए फरियादी को अपनी याचिका के साथ न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था। न्यायालय में प्रस्तुत मुकदमों को व्यवहार तथा व्यवहार के लिए आने वाले व्यक्ति को फरियादी कहा जाता था। याचिकाओं को प्रस्तुत करने के विशेष नियम थे। याचिका लिखित रूप से पूर्ण शुद्ध और संक्षिप्त होना आवश्यक थी। अगर याचिका करने वाले की याचिका अशुद्ध है तो उसे अमान्य कर दिया जाता था। याचिका में सभी नियमों का पालन किया जाता था। याचिका दायें हाथ से प्रस्तुत की जाती थी। इस प्रकार का विवरण नारदस्मृति में दिया गया।

प्राचीन भारत में दो प्रकार के सबूतों का प्रचलन था। मौखिक तथा लिखित सबूत थे। विवादों के निर्णय में साक्षियों की बहुत ही अहम भूमिका थी। दोनों पक्ष अपने कथनों को सिद्ध करने के लिए मौखिक सबूत प्रस्तुत करते थे। सबूत देने से पूर्व सबूतकर्ता को सत्य बोलने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। न्यायालय के द्वारा बुलाये जाने पर सबूतकर्ता को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। यदि उपस्थित न हुए तो उन्हें दण्ड दिया जाता था। जिसके लिये अर्थदण्ड का क्रियाकलाप किया जाता था। सबूत पर हस्ताक्षर न होने पर उसे अमान्य समझा जाता था। लिखित साक्ष्य चार वर्गों में विभाजित थे - स्वहस्तलिखित, दूसरे के द्वारा

लिखित, लौकिक तथा राजकीय मुद्रा में अंकित लौकिक सबूतों के अभाव में दिव्य सबूतों की व्यवस्था की गयी थी।

प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था में भी वर्ण भेद पूर्णतः बने रहे न्याय संहिताओं में कहा गया है कि ब्राह्मण की परीक्षा तुला से, क्षत्रिय की अग्नि से, वैश्य की जल से व शूद्र की विष से की जानी चाहिए। परन्तु बृहस्पति ने कहा है कि सभी दिव्य कराए जा सकते हैं केवल विष वाला दिव्य ब्राह्मण से न कराया जाये। अतः लगता है कि ब्राह्मण के विषय में वर्णमूलक व्यवहार भेद नहीं था। बृहस्पति ने नियम बनाया था कि साक्षी कुलीन हो और नियमपूर्वक वेदों और स्मृतियों में निर्धारित कर्म करने वाले हो इससे शूद्र बहिष्कृत हो जाते हैं। किसी मुकदमे में अभियुक्त के विरुद्ध गवाही नहीं दे सकता है, जो जाति में उसके समान हो निम्न जाति का वादी उच्च जाति के साथियों से अपना वाद प्रमाणित नहीं करा सकता।

प्राचीन भारत में दण्ड व्यवस्था भी वर्ण पर आधारित थी। महाभारत में कहा गया है कि यदि कोई क्षत्रिय वैश्य या शूद्र, ब्राह्मण की हत्या करे तो उसे देश से निकाल दिया जाये। नारद ने इस पुराने मत का समर्थन किया है कि चोरी करने पर ब्राह्मण का अपराध सबसे अधिक और शूद्र का अपराध सबसे कम माना जायेगा। हत्या के पाप से शुद्धि के सन्दर्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की हत्या के लिए क्रमशः बारह, नौ और तीन वर्ष का महाव्रत नामक तप बताया गया है।

प्राचीन भारत में उत्तर भारत में एक विकसित एवं विशिष्ट न्यायिक व्यवस्था अस्तित्व में आई। राजा न्याय का प्रमुख आधार था तथा स्थानीय प्रथाओं के अनुसार न्याय को सुनिश्चित करना उसका धर्म था। न्यायालयों की कई कोटियाँ एवं राजा स्वयं उच्चतम न्यायालयों की भूमिका में था। हर स्तर पर न्यायिक प्रक्रिया अलग-अलग थी। न्याय व्यवस्था में जाति परिवार तथा परिक्षेत्र प्रमुख भूमिका रखते थे। प्राचीन भारत में न्यायाधीशों को सभ्यास कहते थे। ये राजा के द्वारा तो नियुक्त होते थे लेकिन ये राजा के मातहत नहीं होते थे।

मौर्य काल में न्यायिक व्यवस्था वर्तमान न्यायिक व्यवस्था की जननी कही जा सकती है। न्याय प्रणाली व्यवहार न्यायालय जिसे 'धर्म स्थीय' न्यायालय कहते थे जिसमें व्यवहारिक वाद यथा जैसे -विक्रय उपहार का धन सम्पदा विवाह उत्तराधिकार एवं संविदा से उत्पन्न विवादों का निस्तारण होता था। अपराध न्यायालय 'कंटक शोधन' न्यायालय कहलाते थे, जिनमें चोरी, लूट हत्या तथा यौन अपराध से संबंधित वादों का निस्तारण किया जाता था। यदि पक्षकार निचले न्यायालय के निर्णय से संतुष्ट नहीं होते थे तो वे उच्च न्यायालय में अपील कर सकते थे। सर्वोच्च न्यायालय में राजा तथा परिषद होते थे। अकेला राजा सर्वोच्च न्यायालय नहीं होता था। सर्वोच्च न्यायालय राजधानी में स्थित होता था। राज्यों में राज्यीय अपीलीय न्यायालय तथा जनपदों में जनपद न्यायालय हुआ करते थे। मौर्य संहिता बहुत कठोर थी जिसमें शारीरिक यातना, अंगभंग एवं अग्निपरीक्षा खौलते हुए तेल में परीक्षा की व्यवस्था थी। गलत कामों के लिए वे दण्ड के योग्य होते थे। न्यायपालिका की व्यवस्था को सुदृढ़ ढंग से चलाने के लिए वृत्तिक अधिवक्ता 'धर्म्य परिकास या रूप दक्षस तथा प्रतिनिधि' के नाम से जाने जाते थे।

गुप्तकाल की न्यायव्यवस्था भी मौर्यकाल के न्याय व्यवस्था के जैसी ही थी। गुप्तकाल की न्याय व्यवस्था में सैनिक की भागीदारी पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ गई थी। जो दोषी को न्याय प्रक्रिया चलने तक अपने कारागार में रखा जाता था। गुप्त काल की न्याय व्यवस्था में मृत्यु दण्ड की व्यवस्था केवल राजद्रोह जैसे अपराध के लिए ही थी। बार-बार अपराध करने वालों का दाहिना हाथ या नाक-कान काटकर जंगल में छोड़ देने की व्यवस्था थी, परन्तु मृत्युदण्ड इस प्रकार से दिया जाता था कि कोई सामान्य व्यक्ति इसे देखकर ऐसा करने का साहस न कर सके। राजद्रोह के अपराधों को दुर्गी पीटते हुए सार्वजनिक स्थानों पर खड़ा कर उसका नाम तथा उसका अपराध जन सामान्य को बताते हुए वध स्थल तक ले जाते थे तथा बहुत ही डरावने उत्पीड़न ढंग जैसे मस्त हाथी से दबवा देना जैसे तरीकों से मृत्यु दण्ड दिया जाता था। सामान्य परीक्षा में अग्नि परीक्षा, खौलते तेल में परीक्षा तथा विष परीक्षा का दण्ड था। जिसकी यह मान्यता थी कि यदि कोई निर्दोष है तो वह बच जायेगा और यदि दोषी है तो मर जायेगा। गुप्तकाल में दण्ड की व्यवस्था केवल लोगों में भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाया गया था न कि अपराधियों को सुधारने की दृष्टि से।

हर्षवर्धनकाल में न्याय व्यवस्था मौर्यकाल या गुप्तकाल जैसी ही थी। इसमें गुप्त काल की दृष्टि व्यवस्था प्रचलित थी। इनके शासन काल में मृत्यु दण्ड राजा द्वारा देकर समाज से निकाल दिया जाता था। जहाँ वह अपने तौर तरीके से जीवन यापन का प्रयास करता था लेकिन अभाव के कारण वह मर जाता था। बहुत कठोर अपराध में नाक-कान काट कर जंगल में छोड़ दिया जाता था। हर्षवर्धन के शासन काल में न्यायव्यवस्था सुधारात्मक हो गयी थी और यहीं व्यवस्था हर्षवर्धन के बाद भी काफी समय तक चलती रहीं।

### **उपसंहार**

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था में दण्ड का प्रावधान था। चाहे वैदिक कालीन समाज हो, मौर्यकाल हो या गुप्तकाल हो न्याय की व्यवस्था सर्वोपरि थी। प्राचीन भारत में न्याय के लिए विभिन्न न्यायाधीशों की नियुक्ति का भी प्रावधान था जो विभिन्न नामों से विभूषित किये जाते थे जैसे अमात्यों पुरोहित, धर्माधिकारी प्रदेष्टा, मृच्छधि आदि नामों से जाना जाता था। प्राचीन काल में अधिवक्ता का भी उल्लेख है जिन्हें 'धर्म्यपरिकास या रूप दक्षस' प्रतिनिधि के नाम से जाने जाते थे।

### **सन्दर्भ ग्रंथ सूची**

1. पाठक, डॉ. विशुद्धानन्द, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 2015)
2. दूबे, डॉ.ए.एन. वाराणसी, इतिहास लेखन, आनन्द पुस्तक मन्दिर, वाराणसी
3. झा, द्विजेन्द्र नारायण, प्राचीन भारत का इतिहास
4. श्रीमाली, कृष्णमोहन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली
5. थापर, रोमिला, एनसिएण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, 1978
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास, यूनाइटेड बुक डिपो
7. अन्तेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारतीय भण्डारकर, इलाहाबाद
8. विद्यालंकार, सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, श्री सरस्वती सदन
9. डॉ. परांजपे, इण्डियन लीगल एण्ड कॉन्सटीट्यूसनल हिस्ट्री
10. Googlehttp://hi.encyclopediaofjainism.com/index.php